Journal of Advances and Scholarly Researches in Allied Education
Vol. 19, Issue No. 4, July-2022, ISSN 2230-7540

भारतीय लोकतान्त्रिक प्रणाली का बदलता स्वरूप: एक समाजशास्त्रीय चिन्तन

डॉ. सत्येन्द्र सिंह[1]*, डॉ. विपिन कुमार[2]

[1] एसो. प्रोफेसर, समाजशास्त्र विभाग, जनता वैदिक कॉलिज, बड़ौत (बागपत)

मो॰ 9410048279

ई-मेल satyendra.jvc@gmail.com

[2] समाजशास्त्र विभाग, कॉलिज ऑफ एजुकेशन, बिलासपुर, गौतमबुद्धनगर

मो: 9058133395

सार - भारत में लोकतंत्र स्थापित करने का एक ही मार्ग है और वह है संविधान के बनाए रास्ते पर चलते हुए हर व्यक्ति, समूह एवं संगठन उसे अपना व्यक्तिगत सामूहिक व पंगठनिक घोषण-पत्र स्वीकार करें। संविधान की सर्वोच्चता को स्वीकार करके ही नागरिक समाज का निर्माण किया जा सकता है। यदि कुछ व्यक्ति समूह या समुदाय अपने अधिकारों के प्रति सचेत है उन्हें प्रासत करने में सक्षम है और बहुसख्ंयक अपनी पिछड़ी पमाजिक, आर्थिक एवं शैक्षणिक पृष्ठभूमि के कारण अपने अधिकारों के प्रति जागरूक नहीं है उन्हें प्रासत करने का प्रयास नहीं करते हैं तो इन परिस्थितियों में नागरिक समाज का निर्माण नहीं हो सकता।

जब मनुष्य स्वयं अपने अच्छे-बुरे का निर्णय कर प्के तथा अच्छे उदकृदेपय को प्रासत करने में सक्षम हो, तो उसका नैतिक विकास हो जाता है। यही उसका सशक्तिकरण है, प्रबुद्धिकरण है। यही भारत में प्रबुद्ध लोकतंत्र के निर्माण की प्रक्रिया का पहला चरण है

----------X----------

परिचय

भारतीय लोकतन्त्र की बदलती प्रकृति में लोकतंत्र के समक्ष कई प्रकार की चुनौतियाँ एवं संभावनायें उभर कर आयी है। लोकतंत्र को एक महत्वपूर्ण सिद्धान्त के रूप में देखा गया है। भारत में लोकतांत्रिक राजव्यवस्था अपने विकास की अर्द्धशती पूरी कर चुकी है। किसी भी देश की शासन व्यवस्था उसकी सामाजिक सरंचना एवं आर्थिक आधार पर टिकी होती है अलोकतांत्रिक समाज में लोकतांत्रिक शासन व्यवस्था का सफल होना असंभव है, इसकी सफलता के लिए सामाजिक लोकतंत्र एवं आर्थिक समानता एक पूर्व शर्त बन जाती है। भारतीय संविधान को संविधान सभा को सौंपते हुए इसके मुख्य शिल्पकार डॉ. अम्बेड़कर ने 26 नवम्बर, 1949 को राष्ट्र को चेताया था, कि भारत में राजनीतिक समानता एवं दूसरी तरफ सामाजिक एवं आर्थिक असमानता का अंतर्विरोध स्थापित हो रहा है इसे शीघ्र समाप्त करने की जरूरत है अन्यथा गैर-बराबरी के शिकार समूह राजनीतिक बराबरी में अपना विश्वास खो देंगे। आज 65 साल बाद भी डॉ. अम्बेड़कर की चेतावनी प्रासंगिक है। वर्तमान में अगर हम भारतीय लोकतंत्र के सम्मुख प्रमुख चुनौतियों को रेखांकित करें जिसकी वजह से समाज एवं अर्थव्यवस्था को लोकतांत्रिकरण नहीं हो पा रहा है तो यह सुनिश्चित हो जाएगा कि लोकतांत्रिक संस्थाओं की बुनियाद असमानता, अत्याचार, अपमान, अन्याय एवं अलगाव जैसी भेदभावकारी अलोकतांत्रिक बीमारियों के ऊपर नहीं रखी जा सकती। भारत में आज लोकतंत्र एक प्रक्रियात्मक यंत्र के रूप में संचालित हो रहा है तो यह कहना गलत न होगा। भारत सरकार स्वीकार कर रही है कि 82 करोड़ लोग अपने लिए दो वक्त का खाना जुटाने में सक्षम नहीं है। यदि लोकतंत्र वर्तमान गति से काम करता

www.ignited.in

रहा तो 65 साल सभी भारतीयों को अपना तन ढ़कने में और 130 साल सिर ढ़कने के लिए इन्तजार करना पड़ेगा। यह एक गंभीर रोग की ओर इशारा करता है। जब तक इसका कारण न जाना जाए और उसके निवारण की उचित प्रक्रिया न अपनाई जाए, भारत में लोकतंत्र की स्थापना एवं रक्षा एक भ्रम ही रहेगा।

लोकतंत्र में लोक का अर्थ जनता और तंत्र की व्यवस्था से है। अर्थात् जनता का राज्य। इस प्रकार लोकतंत्र उस शासन प्रणाली को कहते हैं, जिसमें जनता स्वयं प्रत्यक्ष रूप से या अप्रत्यक्ष रूप से अपने प्रतिनिधियों के द्वारा सम्पूर्ण जनता के हितों को दृष्टि में रखकर शासन करती है। लोकतंत्र समस्त जनता के नैतिक समर्थन तथा अनुकूल आचरण की अपेक्षा रखता है। विश्व में अधिकांश देशों का झुकाव लोकतंत्र की ओर अधिक रहा है। जहाँ लोकतंत्र नहीं है वहाँ के लोग इसके सपने देख रहे हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि अन्य तंत्रों की तुलना में लोकतंत्र के प्रति जनमानस में प्रबल आस्था दिखती हैं।

वर्तमान राजनीतिक परिदृश्य पूरी तरह बदल गया है। आज के चुनावी मुद्दे भी उन सिद्धान्तों, मान्यताओं, राष्ट्रहित, जनकल्याण और पम्पराओं पर आधारित नहीं है। इनके स्थान पर आज मन्दिर निर्माण, मस्जिद विध्वंस, जातीय आधार पर आरक्षण सरीखे बेमतलब के मुद्दों से संसद का वक्त बर्बाद किया जाता है। इन मुद्दों का सम्बन्ध किसी भी प्रकार आम आदमी की रोटी, कपड़ा और मकान से नहीं है। जबकि संसदीय शासन प्रणाली प्रत्येक व्यक्ति के चहुमुखी विकास का उत्तरदायित्व लेकर स्थापित की गयी थी। उस उत्तरदायितव को भुला दिया गया और उसके स्थान पर सत्ताओं को कब्जाऐं रखने के नये-नये हथकण्डे संसद में खुलेआम प्रयुक्त होने लगे हैं।

स्वतन्त्रता के पश्चात् भारत में लोकतंत्र को सुदृढ़ बनाने के लिए भरपूर प्रयास हुए है और लगातार किये जा रहे हैं, लेकिन अपेक्षा अनुसार परिणाम आज भी बहुत दूर दिखाई पड़ते हैं। यहाँ प्रश्न यह है कि ये समस्यायें लोकतांत्रिक व्यवस्था की कमियाँ है अथवा कुशल नेतृत्व वर्ग के अभाव के कारण है अथवा ये जनमानस की संकीर्ण, दूषित, निष्क्रिय एवं स्वार्थी सोच का परिणाम है। कारण कुछ भी हो हमें इनके उत्तर जल्द ही तलाशने होंगे तभी एक सभ्य, सक्षम, स्वस्थ विकसित भारत का निर्माण हम कर पायेंगे।

लोगों और सरकार के बीच संवाद में विश्वास की कमी की बात आज सतही और गंभीर, दोनों तरह की बहस में लोकप्रिय समझी जा रही है। राज्य नाम के संस्थान और उसके नागरिकों के बीच संबंधों का स्वरूप केवल एक सामाजिक अनुबंध के रूप में हो सकता है। विश्वास की यह परिभाषा और अपेक्षा, आस्था का कार्य है, और यह उस समान, सतही और युक्तिसंगत संबंध से परे ले जाता है, जो लोकतंत्र अपनी प्रणालियों के जरिये कायम रखने का प्रयास करता है। यदि हम कुछ लोकतांत्रिक संस्थागत संरचनाओं की अनिवार्य पूर्वापेक्षाओं पर एक नज़र डाले तो (पंचायत, विधान सभा और संसद में प्रतिनिधियों को भेजने की) चुनाव प्रक्रिया में प्रतिनिधियों का यह दायित्व अंतर्निहित दायित्व के अन्तर्गत उन्हें अपनी सत्ता हस्तान्तरित करते हैं ताकि वे हमसे किए गए वायदों के अनुरूप कार्य करें। इस प्रक्रिया में लगता है कि नागरिक और सकरार के बीच संबंध सूत्रता में भरोसे और विश्वास की धारणा गलत तरीके से अव्यवस्थित है।

भारत में लोकतंत्र और शासन के राजनीतिक परिप्रेक्ष्य में देखे, जहाँ जाति, वर्ग, लिंग और धार्मिक पूर्वाग्रहों के साथ पहचान और अंतराल की अनेक परते दिखाई देती है, वहाँ विश्वास की धारणा व्यक्ति और अंतरंग संबंध पर छोड़नी पड़ती हैं।

इस धारणा की पहचान लोगों को सरकारों के कामकाज, और सत्ता संबंधों के स्वरूप के गम्भीर मूल्यांकन के लिए प्रेरित करती है, जहाँ सत्ता सामंती सामाजिक मानदण्डों, औपनिवेशिक प्रशासनिक पद्धतियों और नये निहित सामाजिक, राजनीतिक-आर्थिक स्वार्थों की प्रवृत्ति से प्रभावित है। अधिकरों की माँग राज्य के इस दायित्व की समग्र वर्तमान समझ का परिणाम है। सत्ता वोट के जरिये लोगों के साथ किए गए अनुबन्ध और कार्यभार ग्रहण करते समय किए गए वायदों पर आधारित है। एक उदासीन और अक्सर संवेदनशील राज्य द्वारा लोकतांत्रिक और संवैधानिक दायित्वों के निर्वहन में नीति, कानून और कार्यान्वयन की धारणा में समानता को लेकर व्यक्ति अपने को ठगा महसूस करता है। वह शासन के प्रत्येक कदम पर पारदर्शिता और जवाबदेही की दृष्टि से जाँच के दौरान राज्य के साथ अनुबंधात्मक संबंध नहीं देख पाता।

भारत में आजादी की लड़ाई और संविधान निर्माण के बाद लोकतंत्र को जिन्दा रखने और प्रभावी बनाने का काम ऐसे समूहों ने किया है जो लोकतंत्र के महत्व को कम न भी आँकते हो पर जिनका लक्ष्य कुछ और हासिल करना था।

वर्षों पहले अमरीकी न्यायविद् लुई डी ब्रैंडे ने कहा था कि किसी देश में लोकतंत्र हो सकता है या थोड़े से लोगों के हाथों में भारी संपदा का संकेन्द्रण हो सकता है परन्तु दोनों एक साथ नहीं रह सकते। दूसरे शब्दों में कहें तो आर्थिक विषमता और जनतंत्र का एक साथ रहना असंभव है क्योंकि विषमता या तो जनतंत्र को धीरे-धीरे नष्ट कर देती है अथवा उसे दोषपूर्ण बना देती है, लुई ब्रैंडे का यह कथन सिर्फ अमरीका या पश्चिमी दुनिया पर ही लागू नहीं होता है जिसमें भारत भी शामिल है। इसलिए यह

सवाल उठना लाजिमी है कि भारत में लोकतंत्र कहाँ पर है? दरअसल, भारत ने जब से नवउदारवादी नीतियों को अपनाया है तब से अरबपतियों की संख्या और उनकी दौलत में दो नाटकीय ढ़ंग से वृद्धि हुई है लेकिन मानव आबादी के सबसे निचले हिस्से की स्थित में कोई परिवर्तन नहीं आया। परिणाम यह हुआ कि विषमता की खाई लगातार चैड़ी होती चली गई। क्रेडिट सुसी रिसर्च इंस्टीट्यूट द्वारा जारी विश्व सम्पत्ति रिपोर्ट की बात मानें तो भारत में संपन्नता तेजी से बढ़ रही है, अमीरों और मध्यम वर्ग की संख्या भी बढ़ती जा रही है लेकिन इस विकास में हर कोई हिस्सेदार नहीं है क्योंकि भारत में अब भी गरीबी एक बड़ी समस्या है। क्या इस स्थिति में लोकतंत्र अपने वास्तविक रूप में स्थापित हो सकता है। यदि नहीं तो फिर लोकतंत्र की संभावनायें कितनी होगी, इसका अंदाजा सहज ही लगाया जा सकता है।

जिन लोगों को लोकतंत्र ने सबसे ज्यादा लाभ दिया है उनका आचरण लोकतंत्र की कसौटी पर पूरा खरा नहीं दिखता। जिन्हें लोकतंत्र ने झोपड़ी से उठाकर महल में पहुँचा दिया उनका व्यवहार किसी राजा महाराजा से कम नहीं है।

राजनीति पर अमीरों और पूँजीपतियों का कब्जा होता जा रहा है जिसके फलस्वरूप आर्थिक गतिशीलता धीरे-धीरे समाप्त हो रही है और सामाजिक-आर्थिक विकास की सीढ़ियों से नीचे से ऊपर चढ़ने में कितनी रूकावटें आ रही हैं। किस तरह से पूँजीपति व उद्यमी विशाल चंदे देकर सत्ता के साथ एक नये किस्म का गठबंधन बना लेते हैं। इससे राजनीतिक समानता या दूसरे शब्दों में कहें तो लोकतंत्र के समावेशीकरण की अवधारणा कमजोर पड़ती जा रही है। राजनीति के पायदान पर वही चढ़ पा रहे हैं जिनके पास धन की बाहुल्यता है, सरकारों पर उन्हीं का नियंत्रण है। तात्पर्य यह हुआ कि पूँजीवाद के साथ लोकतंत्र का धालमेल होने से जिस नवलोकतंत्रवाद का विकास हुआ उसमें आम आदमी के सरोकार कम हो गए और पूँजीपति, उद्यमी तथा सम्भ्रांतजनों के सरोकारों का इजाफा हुआ।

भारत में लोकतंत्र अथवा उनके संरक्षकों के साथ पर्याप्त घनिष्ठता देखी जा रही है। इसका एक सीधा और सरल अनुमान तो संसद में उपस्थित प्रतिनिधियों की संख्या के आधार पर भी लगाया जा सकता है। उल्लेखनीय है कि वर्तमान संसद के निचले सदन में 543 सदस्यों में से लगभग 300 सदस्य करोड़पति या अरबपति है। भारत में इसके अतिरिक्त भी एक विशेष पक्ष है, जो लोकतंत्र के समक्ष चुनौती उपस्थित कर रहा है और यह है आपराधिक छवि वाले लोगों का संसद में बड़ी संख्या में पहुँचना। वर्तमान लोकसभा में ऐसे कई सदस्य हैं जो अपराधिक छवि के हैं। इनके बाद जो कुछ बचता है, उस पर परम्परागत राजनीतिक परिवारों अथवा राजनीतिक उत्तराधिकारियों का कब्जा है। फिर आम आदमी के लिए कितनी जगह शेष रह जाती है और कहाँ है? श्रेष्ठ योग्यता का धारक होने के बावजूद यदि कोई भारतीय नागरिक इन आर्थिक अथवा अन्य उपादानों से सम्पन्न नहीं है तो यह लोकतंत्र की वर्तमान सीढ़ियों पर नहीं चढ़ सकता। फिर यह सवाल तो उठना ही चाहिए कि लोकतंत्र का वास्तविक अर्थ क्या है और यह लोकतंत्र है किसके लिए? ऐसा नहीं है कि हमारा संविधान समावेशी लोकतंत्र की संवेदनाओं से अछूता है या फिर वह इसकी अपेक्षा नहीं करता।

भारत का लोकतंत्र संवेदनशील भी है और यह अपेक्षा करता है कि लोकतंत्र में प्रत्येक व्यक्ति की सहभागिता सुनिश्चित हो। उसकी प्रस्तावना में ही कहा गया है- हम भारत के लोग भारत को एक संपूर्ण प्रभुत्व संपन्न, धर्मनिरपेक्ष, समाजवादी, लोकतांत्रिक गणराज्य बनाने तथा उसके समस्त नागरिकों के लिए न्याय, स्वतन्त्रता तथा समानता जैसे अधिकारों की प्रतिष्ठा करें। यानी लोकतंत्र की वास्तविक शक्ति 'हम भारत के लोगों में निहित की गई है, लेकिन यह केवल औपचारिक पक्ष है। सच इसमें भिन्न है क्योंकि लोकतंत्र की वास्तविक शक्ति हम भारत के लोगों में नहीं बल्कि भारत के उस राजनीतिक तंत्र में निहित है जो लोकतंत्र सूचकांक में कुल अंकों के 50 प्रतिशत के आसपास ही स्कोर कर रहा है। इसका कारण यह है कि वर्तमान राजनीतिक संस्कृति लोकतंत्र का इस्तेमाल अपने लाभों के साथ-साथ अपनी उत्तरजीविका को पुख्ता करने के लिए करती है। अगर ऐसा न होता तो अब तक भारत में सामाजिक-आर्थिक विषमता की विषबेल न जाने कब की समाप्त हो चुकी होती।

समावेशी लोकतंत्र का राजनीतिक नजरिया स्पष्ट होना चाहिए। गाँधी जी ने अपने हिंद स्वराज में इसकी स्पष्ट व्याख्या नहीं की। परन्तु बाद में 28 जुलाई, 1946 को एक साक्षात्कार में उन्होंने व्यक्ति, राज्य और विश्व समुदाय के बीच परस्पर संबंधों के बारे में अपनी परिकल्पना को स्पष्ट किया। यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि गाँधी जी की स्वराज की अवधारणा में समावेशी लोकतंत्र के सभी घटक निहित हैं।

नियति के लिए वचन को पूरा करने के लिए भारत को लोकतंत्र के साथ समावेशन की ऊर्जा को अनुप्राणित करने की आवश्यकता है। निःसंदेह, जवाहरलाल नेहरू और बाबा साहब अम्बेड़कर जैसे लोकतंत्र के पुरोधाओं द्वारा ईंट दर-ईंट खड़ी की गई। हमारे लोकतंत्र की इमारत इसी समावेशन की नींव पर टिकी है। परन्तु यह कोई सरल प्रक्रिया नहीं है। संभवतः भारत अपनी लोकतांत्रिक संस्थाओं का निर्माण इसलिए कर सका कि

और देशवासियों ने उपनिवेशवाद के विरूद्ध जमकर लोहा लिया है। परन्तु इसे समावेशन के रक्त से अनुप्राणित करने के लिए कहीं अधिक प्रयास, कहीं अधिक संकल्प की आवश्यकता है ताकि वैश्वीकरण के दौर में दुनिया भी जटिलताओं से पार पाया जा सके।

कुछ अध्ययनों के मुताबिक बांग्लादेश एवं श्रीलंका जैसे देशों ने अपने यहाँ शिक्षा के क्षेत्र में भारत से कहीं अधिक गुणात्मक विकास किया है। किसी भी देश या समाज का विकास उसक नागरिकों की शैक्षणिक परिपक्वता पर निर्भर करता है लेकिन भारत में लगता है कि शासक जातियों का वर्चस्व बहुजन समाज को अज्ञानता के कुएँ में धकेले हुए हैं। अधिकतर सरकारी स्कूलों को इस रणनीति के तहत घटिया दर्जे का खिचड़ीघर बना दिया गया है जहाँ पर बच्चो को सडा-गला-अधकचरा भोजन मुफ्त में दिया जाता है, जिसे खाकर उन्हें कई बार जान से हाथ धोना पड़ता है।

आज माता-पिता यह पूछने के बजाय कि आज स्कूल में क्या पढ़ा, अपने बच्चों से पूछते हैं कि क्या खाया। कलम-किताब हो न हो लेकिन स्कूल जाते समय बच्चे के हाथ में कटोरा-चम्मच जरूर होना चाहिए। अधिकांश खिचड़ीघरों में कापी-किताब के पन्नों से ही काम चलाया जाता है इसकी पराकाष्ठा तो तब होती है जब शिक्षकों को अनिवार्य रूप से अधिकारियों को यह बताना होता है कि उन्होंने बच्चों को आज क्या खिलाया। कोई सरकारी या अदालती फरमान शिक्षकों से यह नहीं पूछता कि उन्होंने बच्चों को क्या पढ़ाया? यह बच्चों के दिमाग को खिचड़ी बना देने की अनूठी रणनीति है।

अतः भारत में लोकतंत्र स्थापित करने का एक ही मार्ग है और वह है संविधान के बनाए रास्ते पर चलते हुए हर व्यक्ति, समूह एवं संगठन उसे अपना व्यक्तिगत सामूहिक व सांगठनिक घोषण-पत्र स्वीकार करें। संविधान की सर्वोच्चता को स्वीकार करके ही नागरिक समाज का निर्माण किया जा सकता है। यदि कुछ व्यक्ति समूह या समुदाय अपने अधिकारों के प्रति सचेत है उन्हें प्राप्त करने में सक्षम है और बहुसख्ंयक अपनी पिछड़ी सामाजिक, आर्थिक एवं शैक्षणिक पृष्ठभूमि के कारण अपने अधिकारों के प्रति जागरूक नहीं है उन्हें प्राप्त करने का प्रयास नहीं करते हैं तो इन परिस्थितियों में नागरिक समाज का निर्माण नहीं हो सकता। नागरिक समाज लोकतंत्र की बुनियाद है जिसमें सभी व्यक्तियों को अपने व्यक्तित्व के विकास करने के समान अवसर उपलब्ध हो अन्यथा शासक समूह बहुसंख्यक समाज पर अपनी जातिगत नैतिकता का आधिपत्य स्थापित कर लेगा।

जब मनुष्य स्वयं अपने अच्छे-बुरे का निर्णय कर सके तथा अच्छे उद्देश्य को प्राप्त करने में सक्षम हो, तो उसका नैतिक विकास हो जाता है। यही उसका सशक्तिकरण है, प्रबुद्धिकरण है। यही भारत में प्रबुद्ध लोकतंत्र के निर्माण की प्रक्रिया का पहला चरण है जहाँ सशक्त व्यक्ति नागरिक समाज का सदस्य होकर दबे-कुचले लोगों की निर्भरता को समाप्त करने में उनका सहयोग करता है। यही सही अर्थों में लोकतंत्र को सार्थक करता है जब सभी व्यक्ति अपने स्वावलम्बन (आर्थिक, धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक) को प्राप्त कर लेते हैं तो प्रबुद्ध लोकतंत्र अत्तोदीप भवः के रूप में प्रकाशमान हो जाएगा।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. गोपाल दत्त शर्मा, लक्ष्मी ंिसह वर्मा, "डेमोक्रेसी, आर0टी0आई0 एण्ड गुड गवर्ननेंस इन इण्डिया- चैलेन्जस एण्ड ऐसपोन्सिस", अनामिका पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रीब्यूटर्स (प्रा0) लि0, अन्सारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली-2011, पृ0सं.-13-17
2. रमेश छाजता, "डेमोक्रेटिक पाॅलिसिंग: एन एसेन्स आॅफ गुड गवर्ननेंस", 2011, पृ0सं0-24
3. वी.पी. श्रीवास्तव, "ह्यूमन राइट्स एण्ड ज्यूडिसरी", मानस पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली-2002, पृ0सं0-296
4. एम.पी. टण्डन और डा. वी.के. आनन्द, "इण्टरनेशनल लाॅ एण्ड ह्यूमन राइट्स", पब्लिशड बाय इलाहाबाद लाॅ एजेन्सी, 2005, पृ.सं.ः .-.
5. सनत राहा, "प्राॅब्लम आॅफ इण्डियन डेमोक्रेसी एण्ड एमरजेंसी, (मैनस्ट्रीम, एनुअल नंबरः 1975), पृ0सं0-79-85
6. रजनी कोठारी, "डेमोक्रेटिक पाॅलिटी एण्ड सोशल चैप इन इण्डिया", एलाइड पब्लिशर्स लिमिटेड, 1976, पृ0सं0-94-97
7. के0 संथानम, "डेमोक्रेटिक प्लानिंग, प्राॅब्लम एण्ड पिटफाल्स", 1978, पृ0सं0-52-54
8. के0वी0राव, "पार्लियामेन्ट्री डेमोक्रेसी आॅफ इण्डिया, ए क्रिटीकल कमेंट्री", कलकत्ता, 1961, पृ0सं0-47, 64
9. पी0बी0 मुखर्जी, "मूल अधिकार और संवैधानिक संशोधन", लोकतंत्र समीक्षा, वर्ष 4, अंक-94, अक्टूबर-दिसम्बर, 1972 पृ0सं0-4-10
10. योजना, "समावेशी लोकतंत्र", वर्ष-158, अंकः8, अगस्त-2013, पृ0सं0-16-32

Corresponding Author

डॉ. सत्येन्द्र सिंह *

एसो. प्रोफेसर, समाजशास्त्र विभाग, जनता वैदिक कॉलिज,
बड़ौत (बागपत)